

धर्म और विद्याका तीर्थ—वैशाली ।

उपस्थित सज्जनो,

जबसे वैशाली संघकी प्रवृत्तियोंके बारेमें थोड़ा बहुत जानता रहा हूँ तभीसे उसके प्रति मेरा सद्भाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। यह सद्भाव आखिर मुझे यहाँ लाया है। मैंने सोचकर यही तय किया कि अगर संघके प्रति सद्भाव प्रकट करना हो तो मेरे लिए संतोषप्रद मार्ग यही है कि मैं अपने जीवनमें अधिक बार नहीं तो कससे कम एक बार, उसकी प्रवृत्तियोंमें सीधा भाग लूँ। संघके संचालकोंके प्रति आदर व कृतज्ञता दर्शानेका भी सीधा मार्ग यही है।

मानव मात्रका तीर्थ

दीर्घतपस्वी महावीरकी जन्म-भूमि और तथागत बुद्धकी उपदेश-भूमि होनेके कारण वैशाली विदेहका प्रधान नगर रहा है। यह केवल जैनों और बौद्धोंका ही नहीं, पर मानव-जातिका एक तीर्थ बन गया है। उक्त दोनों श्रमणवीरोंने कदम्बा तथा मैत्रीकी जो विरासत अपने-अपने तत्कालीन संघोंके द्वारा मानव जातिको दी थी उसीका कालक्रमसे भारत और भारतके बाहर इतना विकास हुआ है कि आजका कोई भी मानवतावादी वैशालीके इतिहासके प्रति उदासीन रह नहीं सकता।

मानवजीवनमें संबंध तो अनेक हैं, परन्तु चार संबंध ऐसे हैं जो ध्यान-स्वीचते हैं—राजकीय, सामाजिक, धार्मिक और विद्याविषयक। इनमेंसे पहले दो स्थिर नहीं। दो मित्र नरपति या दो मित्र राज्य कभी मित्रतामें स्थिर नहीं। दो परस्परके शत्रु भी अचानक ही मित्र बन जाते हैं, इतना ही नहीं शासित शासक बन जाता है और शासक शासित। सामाजिक संबंध कितना ही निकटका और रक्तका हो तथापि यह स्थायी नहीं। हम दो चार पीढ़ी दूरके संबंधियोंको अकसर बिल्कुल भूल जाते हैं। यदि संबंधियोंके बीच स्थान की दूरी हुई या आना-जाना न रहा तब तो बहुधा एक कुटुम्ब के व्यक्ति भी पारस्परिक संबंधको भूल जाते हैं। परन्तु धर्म और विद्याके संबंधकी बात निराली है। किसी एक धर्मका अनुगामी भाषा, जाति, देश, आदि बातोंमें उसी धर्मके दूसरे अनुगामीयोसे बिल्कुल ही जुदा हो तब भी उनके बीच धर्मका तांता ऐसा होता है मानो वे एक ही कुटुम्ब के हों। चीन, तिब्बत जैसे दूरवर्ती देशोंका बौद्ध जब सीलोन बर्मा आदिके बौद्धोंसे मिलेगा तब वह आत्मीयताका अनुभव करेगा।

भारतमें जन्मा और पला मुसलमान मक्का-मदीनाके मुसलमान अरबोंसे धनि-
 छता मानेगा । यह स्थिति सब धर्मोंकी अकसर देखी जाती है । गुजरात,
 राजस्थान, दूर दक्षिण, कर्णाटक आदि के जैन कितनी ही बातों में भिन्न क्यों
 न हों पर वे सब भगवान् महावीरके धर्मानुयायीके नाते अपने में पूर्ण एकताका
 अनुभव करते हैं । भगवान् महावीरके अहिंसाप्रधान धर्मका पोषण, प्रचार
 वैशाली और विदेहमें ही मुख्यतया हुआ है । जैसे चीनी बर्मी आदि बौद्ध,
 सारनाथ, गया आदि को अपना ही स्थान समझते हैं, वैसे ही दूर-दूरके जैन
 महावीरके जन्मस्थान वैशालीको भी मुख्य धर्मस्थान समझते हैं और महावीर
 के धर्मानुगामी के नाते वैशालीमें और वैसे ही अन्य तीर्थोंमें बिहारमें मिलते
 हैं । उनके लिए बिहार और खासकर वैशाली मक्का या जेरुसेलम है । यह
 धार्मिक संबंध स्थायी होता है । कालके अनेक थपेड़े भी इसे क्षीण नहीं कर
 सके हैं और न कभी क्षीण कर सकेंगे । बल्कि जैसे-जैसे अहिंसाकी समझ और
 उसका प्रचार बढ़ता जाएगा वैसे-वैसे शत्रुपुत्र महावीरकी यह जन्मभूमि विशेष
 और विशेष तीर्थरूप बनती जाएगी ।

हम लोग पूर्वके निवासी हैं । सोक्रेटिस, प्लेटो, एरिस्टोटील आदि पश्चिमके
 निवासी । बुद्ध, महावीर, कणाद, अक्षपाद, शंकर, वाचस्पति आदि भारतके
 सपूत हैं, जिनका यूरोप, अमेरिका आदि देशोंसे कोई वास्ता नहीं । फिर भी
 पश्चिम और पूर्व के संबन्धको कभी क्षीण न होने देनेवाला तत्त्व कौन है, ऐसा
 कोई प्रश्न करे तो इसका जवाब एक ही है कि वह तत्त्व है विद्याका । जुदे-जुदे
 धर्मवाले भी विद्याके नाते एक हो जाते हैं । लड़ाई, आर्थिक खींचातानी,
 मतान्धता आदि अनेक विघातक आभुरी तत्त्व आते हैं तो भी विद्या ही ऐसी
 चीज है जो सब जुदाइयोंमें भी मनुष्य-मनुष्यको एक दूसरेके प्रति आदरशील
 बनाती है । अगर विद्याका संबन्ध ऐसा उज्ज्वल और स्थिर है तो कहना होगा
 कि विद्याके नाते भी वैशाली-विदेह और बिहार सबको एक सूत्रमें पिरोएगा
 क्योंकि वह विद्याका भी तीर्थ है ।

महात्मा गांधीजीने अहिंसाकी साधना शुरू तो की दक्षिण अफ्रीकामें, पर
 उस अनोखे ऋषि-शस्त्रका सीधा प्रयोग उन्होंने पहले पहल भारतमें शुरू किया,
 इसी विदेह क्षेत्र में । प्रजाकी अन्तश्चेतनामें जो अहिंसाकी विरासत सुषुप्त पड़ी
 थी, वह गांधीजीकी एक मौन पुकारसे जग उठी और केवल भारतका ही नहीं
 पर दुनिया-भरका ध्यान देखते-देखते चम्पारन-बिहारकी ओर आकृष्ट हुआ ।
 और महावीर तथा बुद्धके समयमें जो चमत्कार इस विदेहमें हुए थे वही गांधी-
 जीके कारण भी देखनेमें आए । जैसे अनेक क्षत्रियपुत्र, गृहस्थपुत्र और

ब्राह्मणपुत्र तथा पुत्रियों बुद्ध व महावीरके पीछे पागल होकर निकल पड़े थे वैसे ही कई अध्यापक, वकील, जमींदार और अन्य समझदार स्त्री-पुरुष गांधीजीके प्रभावमें आए । जैसे उस पुराने युग में करुणा तथा मैत्रीका सार्वत्रिक प्रचार करनेके लिए संघ बने थे वैसे ही सत्याग्रहको सार्वत्रिक बनानेके गांधीजीके स्वप्नमें सीधा साथ देनेवालोंका एक बड़ा संघ बना जिसमें वैशाली-विदेह या विहारके सप्तोंका साथ बहुत महत्त्व रखता है । इसीसे मैं नवयुगीन दृष्टिसे भी इस स्थानको धर्म तथा विद्याका तीर्थ समझता हूँ । और इसी भावनासे मैं सब कुछ सोचता हूँ ।

मैं काशीमें अध्ययन करते समय आजसे ४६ वर्ष पहले सहाध्यायियों और जैन साधुओंके साथ पैदल चलते-चलते उस क्षत्रियकुण्डमें भी यात्राकी दृष्टिसे आया था जिसे आजकल जैन लोग महावीरकी जन्मभूमि समझकर वहाँ यात्राके लिए आते हैं और लखीसराय जंक्शनसे जाया जाता है । यह मेरी विहारकी सर्व प्रथम धर्मयात्रा थी । इसके बाद अर्थात् करीब ४३ वर्षके पूर्व मैं मिथिला-विदेहमें अनेक बार पढ़ने गया और कई स्थानोंमें कई बार ठहरा भी । यह मेरी विदेहकी विद्यायात्रा थी । उस युग और इस युगके बीच बड़ा अन्तर हो गया है । अनेक साधन मौजूद रहनेपर भी उस समय जो बातें मुझे शत न थीं वह थोड़े बहुत प्रमाणमें ज्ञात हुई हैं और जो भावना साम्प्रदायिक दायरेके कारण उस समय अस्तित्वमें न थी आज उसका अनुभव कर रहा हूँ । अब तो मैं स्पष्ट रूपसे समझ सका हूँ कि महावीरकी जन्मभूमि न तो वह लिच्छुआड़ या पर्वतीय क्षत्रियकुण्ड है और न नालन्दाके निकटका कुण्डल-ग्राम ही । आजके बसाढ़की खुदाईमेंसे इतने अधिक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं और इन प्रमाणोंका जैन-बौद्ध परम्पराके प्राचीन शास्त्रोंके उल्लेखोंके साथ इतना अधिक मेल बैठता है तथा फाहियान ह्युएनसंग जैसे प्रत्यक्षदर्शी यात्रियों के वृत्तान्तोंके साथ अधिक संवाद होता है कि यह सब देखकर मुझको उस समय के अपने अज्ञानपर हँसी ही नहीं तरस भी आता है । और साथ ही साथ सत्यकी जानकारीसे असाधारण खुशी भी होती है । वह सत्य यह है कि बसाढ़के क्षेत्रमें जो वासुकुण्ड नामक स्थान है वही सचमुच क्षत्रियकुण्ड है ।

विभिन्न परंपराओंकी एकता

भारतमें अनेक धर्म परम्पराएँ रही हैं । ब्राह्मण परम्परा मुख्यतया वैदिक है जिसकी कई शाखाएँ हैं । श्रमण परम्पराकी भी जैन, बौद्ध, आजीवक, प्राचीन सांख्य-योग आदि कई शाखाएँ हैं । इन सब परम्पराओंके शास्त्रमें, गुरुवर्ग और संघमें, आचार-विचारमें उत्थान-पतन और विकास-हासमें इतनी अधिक

ऐतिहासिक भिन्नता है कि उस-उस परम्परामें जन्मा व पला हुआ और उस-उस परम्पराके संस्कारसे संस्कृत हुआ कोई भी व्यक्ति सामान्य रूपसे उन सब परम्पराओंके अन्तस्तल में जो वास्तविक एकता है, उसे समझ नहीं पाता। सामान्य व्यक्ति हमेशा भेदपोषक स्थूल स्तरोंमें ही फँसा रहता है पर तत्त्वचिंतक और पुरुषार्थी व्यक्ति जैसे-जैसे गहराईसे निर्भयतापूर्वक सोचता है वैसे-वैसे उसको आन्तरिक सत्यकी एकता प्रतीत होने लगती है और भाषा, आचार, संस्कार आदि सब भेद उसकी प्रतीतिमें बाधा नहीं डाल सकते। मानव चेतना आखिर मानव-चेतना ही है, पशुचेतना नहीं। जैसे-जैसे उसके ऊपरसे आवरण हटते जाते हैं वैसे-वैसे वह अधिकाधिक सत्यका दर्शन कर पाती है।

हम साम्प्रदायिक दृष्टिसे महावीरको अलग, बुद्धको अलग और उपनिषद् के ऋषियोंको अलग समझते हैं, पर अगर गहराईसे देखें तो उन सबके मौलिक सत्यमें शब्दभेदके सिवा और भेद न पायेंगे। महावीर मुख्यतया अहिंसाकी परिभाषामें सब बातें समझाते हैं तो बुद्ध तृष्णात्याग और मैत्रीकी परिभाषामें अपना सन्देश देते हैं। उपनिषदके ऋषि अविद्या या अज्ञान निवारणकी दृष्टिसे चिन्तन उपस्थित करते हैं। ये सब एक ही सत्यके प्रतिपादनकी जुदी-जुदी रीतियाँ हैं; जुदी-जुदी भाषाएँ हैं। अहिंसा तब तक सिद्ध हो ही नहीं सकती जब तक तृष्णा हो। तृष्णात्यागका दूसरा नाम ही तो अहिंसा है। अज्ञानकी वास्तविक निवृत्ति बिना हुए न तो अहिंसा सिद्ध हो सकती है और न तृष्णा का त्याग ही सम्भव है। धर्मपरम्परा कोई भी क्यों न हो, अगर वह सचमुच धर्मपरम्परा है तो उसका मूल तत्त्व अन्य वैसी धर्मपरम्पराओं से जुदा हो ही नहीं सकता। मूल तत्त्व की जुदाई का अर्थ होगा कि सत्य एक नहीं। पर पहुँचे हुए सभी ऋषियोंने कहा है कि सत्यके आविष्कार अनैकधा हो सकते हैं पर सत्य तो अखण्डित एक ही है। मैं अपने छुपन वर्षके थोड़े-बहुत अध्ययन-चिन्तनसे इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि पन्थभेद कितना ही क्यों न हो पर उसके मूल में एक ही सत्य रहता है। आज मैं इसी भावनासे महावीरकी जन्मजयन्तीके स्थूल महोत्सवमें भाग ले रहा हूँ। मेरी दृष्टिमें महावीरकी जयन्तीका अर्थ है उनकी अहिंसासिद्धिकी जयन्ती। और अहिंसासिद्धिकी जयन्तीमें अन्यान्य महापुरुषोंकी सद्गुणसिद्धि अपने आप समा जाती है। अगर वैशालीके आँगनमें खड़े होकर हम लोग इस व्यापक भावनाकी प्रतीति न कर सकें तो हमारा जयन्ती-उत्सव नए युगकी मॉगको सिद्ध नहीं कर सकता।

राज्यसंघ और धर्मसंघ

वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ तथा जुदी-जुदी पत्रिकाओंके द्वारा वैशालीका

पौराणिक और ऐतिहासिक परिचय इतना अधिक मिल जाता है कि इसमें वृद्धि करने जितनी नई सामग्री अभी नहीं है। भगवान् महावीर की जीवनी भी उस अभिनन्दन ग्रन्थमें संक्षेप से आई है। यहाँ मुझको ऐसी कुछ बातें कहनी हैं जो जैसे महात्माओंकी जीवनीसे फलित होती हैं और जो हमें इस युगमें तुरन्त कामकी भी हैं। महावीरके समयमें वैशालीके और दूसरे भी गणराज्य थे जो तत्कालीन प्रजासत्ताक राज्य ही थे पर उन गणराज्योंकी संघदृष्टि अपने तक ही सीमित थी। इसी तरहसे उस समय के जैन, बौद्ध, आजीवक आदि अनेक धर्मसंघ भी थे जिनकी संघदृष्टि भी अपने-अपने तक ही सीमित थी। पुराने गणराज्योंकी संघदृष्टिका विकास भारत-व्यापी नये संघराज्यरूपमें हुआ है जो एक प्रकारसे अहिंसाका ही राजकीय विकास है। अब इसके साथ पुराने धर्म-संघ तभी मेल खा सकते हैं या विकास कर सकते हैं जब उन धर्मसंघोंमें भी मानवतावादी संघदृष्टिका निर्माण हो और तदनुसार सभी धर्मसंघ अपना-अपना विधान बदलकर एक लक्ष्यगामी हों। यह हो नहीं सकता कि भारतका राज्यतंत्र तो व्यापक रूपसे चले और पन्थोंके धर्मसंघ पुराने ढर्रे पर चलें। आखिरको राज्यसंघ और धर्मसंघ दोनोंका प्रवृत्ति क्षेत्र तो एक अखंड भारत ही है। ऐसी स्थितिमें अगर संघराज्यको ठीक तरहसे विकास करना है और जनकल्याणमें भाग लेना है तो धर्मसंघके पुरस्कर्ताओंको भी व्यापक दृष्टिसे सोचना होगा। अगर वे ऐसा न करें तो अपने-अपने धर्मसंघको प्रतिष्ठित व जीवित रख नहीं सकते या भारतके संघराज्यको भी जीवित रहने न देंगे। इसलिए हमें पुराने गणराज्यकी संघदृष्टि तथा पन्थोंकी संघदृष्टिका इस युगमें ऐसा सामञ्जस्य करना होगा कि धर्मसंघ भी विकासके साथ जीवित रह सके और भारतका संघराज्य भी स्थिर रह सके।

भारतीय संघराज्यका विधान असांप्रदायिक है इसका अर्थ यही है कि संघराज्य किसी एक धर्म में बद्ध नहीं है। इसमें लघुमती बहुमती सभी छोटे-बड़े धर्म पन्थ समान भावसे अपना-अपना विकास कर सकते हैं। जब संघराज्यकी नीति इतनी उदार है तब हरेक धर्म परम्पराका कर्तव्य अपने-आप सुनिश्चित हो जाता है कि प्रत्येक धर्म परम्परा समग्र जनहितकी दृष्टिसे संघराज्यको सब तरहसे दृढ़ बनानेका खयाल रखे और प्रयत्न करे। कोई भी लघु या बहुमती धर्म परम्परा ऐसा न सोचे और न ऐसा कार्य करे कि जिससे राज्यकी केन्द्रीय शक्ति या प्रान्तिक शक्तियाँ निर्बल हों। यह तभी सम्भव है जब कि प्रत्येक धर्म परम्पराके जघाबदेह समझदार त्यागी या गृहस्थ अनुयायी अपनी

दृष्टिको व्यापक बनाएँ और केवल संकुचित दृष्टिसे अपनी परम्पराका ही विचार न करें ।

धर्म परम्पराओंका पुराना इतिहास हमें यही सिखाता है । गणतन्त्र, राज-तन्त्र ये सभी आपसमें लड़कर अन्तमें ऐसे धराशायी हो गए कि जिससे विदेशियोंको भारतपर शासन करनेका मौका मिला । गाँधीजीकी अहिंसादृष्टिने उस त्रुटिको दूर करनेका प्रयत्न किया और अन्तमें २७ प्रान्तीय घटक राज्योंका एक केन्द्रीय संघराज्य कायम हुआ जिसमें सभी प्रान्तीय लोगों का हित सुरक्षित रहे और बाहरके भय स्थानोंसे भी बचा जा सके । अब धर्म परम्पराओंको भी अहिंसा, मैत्री या ब्रह्मभावनाके आधारपर ऐसा धार्मिक वातावरण बनाना होगा कि जिसमें कोई एक परम्परा अन्य परम्पराओंके संकटको अपना संकट समझे और उसके निवारणके लिए वैसा ही प्रयत्न करे जैसा अपनेपर आये संकटके निवारणके लिए । हम इतिहाससे जानते हैं कि पहले ऐसा नहीं हुआ । फलतः कभी एक तो कभी दूसरी परम्परा बाहरी आक्रमणोंका शिकार बनी और कम ब्यादा रूपमें सभी धर्म परम्पराओंकी सांस्कृतिक और विद्यासम्पत्तिको सहना पड़ा । सोमनाथ, रुद्रमहालय और उज्जयिनीका महाकाल तथा काशी आदिके वैष्णव, शैव आदि धाम इत्यादि पर जब संकट आए तब अगर अन्य परम्पराओंने प्राणार्पणसे पूरा साथ दिया होता तो वे धाम बच जाते । नहीं भी बचते तो सब परम्पराओंकी एकताने विरोधियोंका हौसला जरूर ढीला किया होता । सारनाथ, नालन्दा, उदन्तपुरी, विक्रमशिला आदिके विद्याविहारोंको बख्तियार खिलजी कभी ध्वस्त कर नहीं पाता अगर उस समय बौद्धेतर परम्पराएँ उस आफतको अपनी समझतीं । पाटन, तारङ्गा, सांचोर, आबू, भालोर आदिके शिल्पस्थापत्यप्रधान जैन मन्दिर भी कभी नष्ट नहीं होते । अब समय बदल गया और हमें पुरानी त्रुटियोंसे सबक सीखना होगा ।

सांस्कृतिक और धार्मिक स्थानोंके साथ-साथ अनेक ज्ञानभण्डार भी नष्ट हुए । हमारी धर्म परम्पराओंकी पुरानी दृष्टि बदलनी हो तो हमें नीचे लिखे अनुसार कार्य करना होगा ।

(१) प्रत्येक धर्मपरम्पराको दूसरी धर्मपरम्पराओंका उतना ही आदर करना चाहिए जितना वह अपने बारेमें चाहती है ।

(२) इसके लिये गुरुवर्ग और पण्डितवर्ग सबको आपसमें मिलने-जुलने के प्रसंग पैदा करना और उदारदृष्टिसे विचार विनिमय करना । जहाँ ऐकमत्य न हो वहाँ विवादमें न पड़कर सहिष्णुताकी वृद्धि करना । धार्मिक और सांस्कृतिक अध्ययन अध्यापनकी परम्पराओंको इतना विकसित करना कि

जिसमें किसी एक धर्मपरम्पराका अनुयायी अन्य धर्मपरम्पराओंकी बातोंसे सर्वथा अनभिज्ञ न रहे और उनके मन्तव्योंको गलतरूपमें न समझे ।

इसके लिए अनेक विश्वविद्यालय महाविद्यालय जैसे शिक्षाकेन्द्र बनें हैं जहाँ इतिहास और तुलना दृष्टिसे धर्मपरम्पराओंकी शिक्षा दी जाती है । फिर भी अपने देशमें ऐसे सैकड़ों नहीं हजारों छोटे-बड़े विद्याधाम, पाठशालाएँ आदि हैं जहाँ केवल साम्प्रदायिक दृष्टिसे उस परम्पराकी एकांगी शिक्षा दी जाती है । इसका नतीजा अभी यहीं देखनेमें आता है कि सामान्य जनता और हरेक परम्पराके गुरु या परिडित अभी उसी दुनियामें जी रहे हैं जिसके कारण सब धर्मपरम्पराएँ निस्तेज और मिथ्याभिमानी हो गई हैं ।

विद्याभूमि-विदेह

वैशाली-विदेह-मिथिलाके द्वारा अनेक शास्त्रीय विद्याओंके विषयमें बिहार का जो स्थान है वह हमें पुराने ग्रीसकी याद दिलाता है । उपनिषदोंके उपलब्ध भाष्योंके प्रसिद्ध प्रसिद्ध आचार्य भले ही दक्षिणमें हुए हों पर उपनिषदोंके आत्मतत्त्वविषयक और अद्वैतस्वरूपविषयक अनेक गम्भीर चिन्तन-विदेहके जनककी सभामें ही हुए हैं जिन् चिन्तनोंके केवल पुराने आचार्योंका ही नहीं पर आधुनिक देश-विदेशके अनेक विद्वानोंका भी ध्यान खींचा है । बुद्धने धर्म और विनयके बहुत बड़े भागका असली उपदेश बिहारके जुदे जुदे स्थानोंमें ही किया हैं; इतना ही नहीं बल्कि बौद्ध त्रिपिटककी सारी संकलना बिहारकी तीन संगीतियोंमें ही हुई है । जो त्रिपिटक बिहारके सपूतोंके द्वारा ही एशियाके दूर-दूर अगम्य भागोंमें भी पहुँचे हैं और जो इस समयकी अनेक भाषाओंमें रूपान्तरित भी हुए हैं। इन्हीं त्रिपिटकोंने सैकड़ों यूरोपीय विद्वानोंको अपनी ओर खींचा और जो कई यूरोपीय भाषाओंमें रूपान्तरित भी हुए । जैन परम्पराके मूल आगम पीछेसे भले ही पश्चिम और दक्षिण भारतके जुदे-जुदे भागोंमें पहुँचे हों, संकलित व लेखबद्ध भी हुए हों पर उनका उद्गम और प्रारम्भिक संग्रहण तथा संकलन तो बिहारमें ही हुआ है । बौद्ध संगीतिकी तरह प्रथम जैन संगीति भी बिहारमें ही मिली थी । चाणक्यके अर्थशास्त्रकी और सम्भवतः कामशास्त्रकी जन्मभूमि भी बिहार ही है । हम जब दार्शनिक, सूत्र और व्याख्या ग्रंथोंका विचार करते हैं तब तो हमारे सामने बिहारकी वह प्राचीन प्रतिभा मूर्त्त होकर उपस्थित होती है । कणाद और अक्षपाद ही नहीं पर उन दोनोंके वैशेषिक-न्याय दर्शनके भाष्य, वार्तिक, टीका, उपटीका आदि सारे साहित्य परिवारके प्रयोक्ता बिहारमें ही, खासकर विदेह मिथिलामें ही हुए हैं ।

सांख्य, योग परम्पराके मूल चिन्तक और ग्रन्थकार एवं व्याख्याकार बिहार

में या बिहारकी सीमाके आसपास ही हुए हैं। मेरे ख्यालसे मीमांसाकार जैमिनी और बादरायण भी बिहारके ही होने चाहिए। पूर्वोत्तर मीमांसाके अनेक धुरीण प्रमुख व्याख्याकार मिथिलामें ही हुए हैं जो एक बार सैकड़ों मीमांसक विद्वानोंका धाम मानी जाती थी। बंगाल, दक्षिण आदि अन्य भागोंमें न्याय विद्याकी शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हैं पर उनका मूल तो मिथिला ही है। वाचस्पति, उदयन, गंगेश आदि प्रकाण्ड विद्वानोंने दार्शनिक विद्याका इतना अधिक विकास किया है कि जिसका असर प्रत्येक धर्मपरम्परापर पड़ा है। तच्छिलाके ध्वंसके बाद जो बौद्ध विहार स्थापित हुए उनके कारण तो विहार काशी बन गया था। नालन्दा, विक्रमशीला, उदन्तपुरी जैसे बड़े-बड़े विहार और जगत्तल जैसे साधारण विहारमें बसनेवाले भिक्षुओं और अन्य दुर्वेक मिश्र जैसे ब्राह्मण विद्वानोंने जो संस्कृत बौद्ध साहित्यका निर्माण किया है उसकी गहराई, सूक्ष्मता और बहुश्रुतता देखकर आज भी विहारके प्रति आदर उमड़ आता है। यह बात भली-भाँति हमारे लक्षमें आ सकती है कि बिहार धर्मकी तरह विद्याका भी तीर्थ रहा है।

विद्याकेन्द्रोंमें सर्व-विद्याओंके संग्रहकी आवश्यकता

जैसा पहले सूचित किया है कि धर्मपरम्पराओंकी अपनी दृष्टिका तथा व्यवहारोंका युगानुरूप विकास करना ही होगा। वैसे ही विद्याओंकी सब परम्पराओंको भी अपना तेज कायम रखने और बढ़ानेके लिए अध्ययन-अध्यापनकी प्रणालीके विषयमें नए सिरे से सोचना होगा।

प्राचीन भारतीय विद्याएँ कुल मिलाकर तीन भाषाओंमें समा जाती हैं—संस्कृत, पालि और प्राकृत। एक समय था जब संस्कृतके धुरन्धर विद्वान् भी पालि या प्राकृत शास्त्रोंको जानते न थे या बहुत ऊपर-ऊपरसे जानते थे। ऐसा भी समय था जब कि पालि और प्राकृत शास्त्रोंके विद्वान् संस्कृत शास्त्रोंकी पूर्ण जानकारी रखते न थे। यही स्थिति पालि और प्राकृत शास्त्रोंके जानकारोंके बीच परस्परमें भी थी। पर क्रमशः समय बदलता गया। आज तो पुराने युगने ऐसा पलटा खायो है कि इसमें कोई भी सच्चा विद्वान् एक या दूसरी भाषाकी तथा उस भाषामें लिखे हुए शास्त्रोंकी उपेक्षा करके नवयुगीन विद्यालयों और महाविद्यालयोंको चला ही नहीं सकता। इस दृष्टिसे जब विचार करते हैं तब स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यूरोपीय विद्वानोंने पिछले सवा सौ वर्षोंमें भारतीय विद्याओंका जो गौरव स्थापित किया है, संशोधन किया है उसकी बराबरी करनेके लिए तथा उससे कुछ आगे बढ़नेके लिए हम भारतवासियोंको अब अध्ययन-अध्यापन, चिन्तन, लेखन और संपादन-विवेचन आदिका क्रम अनेक प्रकार-

से बदलना होगा जिसके सिवाय हम प्राच्यविद्या-विशारद यूरोपीय विद्वानोंके अनुगामी तक बनने में असमर्थ रहेंगे ।

प्राच्य भारतीय विद्याकी किसी भी शाखाका उच्च अध्ययन करनेके लिए तथा उच्च पदवी प्राप्त करनेके लिए हम भारतीय यूरोपके जुदे-जुदे देशोंमें जाते हैं उसमें केवल नौकरीकी दृष्टिसे डीप्री पानेका ही मोह नहीं है पर इसके साथ उन देशोंकी उस-उस संस्था का व्यापक विद्यामय वातावरण भी निमित्त है । वहाँके अध्यापक, वहाँकी कार्यप्रणाली, वहाँके पुस्तकालय आदि ऐसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं जो हमें अपनी ओर खींचते हैं, अपने देशकी विद्याओंका अध्ययन करनेके लिए हमको हजारों कोस दूर कर्ज ले करके भी जाना पड़ता है और उस स्थिति में जब कि उन प्राच्य विद्याओंकी एक-एक शाखाके पारदर्शी अनेक विद्वान् भारतमें भी मौजूद हों । यह कोई अचरजकी बात नहीं है । वे विदेशी विद्वान् इस देशमें आकर सीख गए, अभी वे सीखने आते हैं पर सिक्का उनका है । उनके सामने भारतीय पुराने परिद्वत और नई प्रणालीके अध्यापक अकसर फीके पड़ जाते हैं । इसमें कृत्रिमता और मोहका भाग वाद करके जो सत्य है उसकी ओर हमें देखना है । इसको देखते हुए मुझको कहनेमें कोई भी हिचकिचाहट नहीं कि हमारे उच्च विद्याके केन्द्रोंमें शिक्षण-प्रणालीका आमूल परिवर्तन करना होगा ।

उच्च विद्याके केन्द्र अनेक हो सकते हैं । प्रत्येक केन्द्रमें किसी एक विद्या-परंपराकी प्रधानता भी रह सकती है । फिर भी ऐसे केन्द्र अपने संशोधन कार्यमें पूर्ण तभी बन सकते हैं जब अपने साथ संबंध रखने वाली विद्या परंपराओंकी भी पुस्तक आदि सामग्री वहाँ संपूर्णतया सुलभ हो ।

पालि, प्राकृत, संस्कृत भाषामें लिखे हुए सब प्रकारके शास्त्रोंका परस्पर इतना घनिष्ठ संबन्ध है कि कोई भी एक शाखाकी विद्याका अभ्यासी विद्या की दूसरी शाखाओंके आवश्यक वास्तविक परिशीलनको बिना किए सच्चा अभ्यासी बन ही नहीं सकता, जो परिशीलन अधूरी सामग्रीवाले केन्द्रोंमें संभव नहीं ।

इससे पुराना पंथवाद और जातिवाद जो इस युगमें हेय समझा जाता है वह अपने आप शिथिल हो जाता है । हम यह जानते हैं कि हमारे देशका उच्चवर्णाभिमानी विद्यार्थी भी यूरोपमें जाकर वहाँके संसर्गसे वर्णाभिमान भूल जाता है । यह स्थिति अपने देशमें स्वाभाविक तब बन सकती है जब कि एक ही केन्द्रमें अनेक अध्यापक हों, अध्येता हों और सबका परस्पर मिलन सहज हो । ऐसा नहीं होनेसे साम्प्रदायिकताका मिथ्या अंश किसी न किसी रूपमें

पुष्ट हुए बिना रह नहीं सकता। साम्प्रदायिक दाताओंकी मनोवृत्तिको जीतने-के वास्ते उच्चविद्याके क्षेत्रमें भी साम्प्रदायिकताका दिखावा संचालकोंको करना पड़ता ही है। उस लिये मेरे विचारसे तो उच्चतम अध्ययनके केन्द्रोंमें सर्वविद्याओंकी आवश्यक सामग्री होनी ही चाहिए।

शास्त्रीय परिभाषामें लोकजीवनकी छाया

अब अन्तमें मैं संचेपमें यह दिखाना चाहता हूँ कि उस पुराने युगके राज्यसंघ और धर्मसंघका आपसमें कैसा चोली-दामनका संबन्ध रहा है जो अनेक शब्दोंमें तथा तत्त्वज्ञानकी परिभाषाओंमें भी सुरक्षित है। हम जानते हैं कि वज्जीओंका राज्य गणराज्य था अर्थात् वह एक संघ था। गण और संघ शब्द ऐसे समूहके सूचक हैं जो अपना काम चुने हुए योग्य सभ्यके द्वारा करते थे। वही बात धर्मक्षेत्रमें भी थी। जैनसंघ भी भिक्षु-भिक्षुणी, भ्रावक भ्राविका चतुर्विध अङ्गोंसे ही बना और सब अङ्गोंकी सभ्यतिसे ही काम करता रहा। जैसे-जैसे जैनधर्मका प्रसार अन्यान्य क्षेत्रोंमें तथा छोटे-बड़े सैकड़ों-हजारों गाँवोंमें हुआ वैसे-वैसे स्थानिक संघ भी कायम हुए जो आज तक कायम हैं। किसी भी एक कस्बे या शहरको लीजिए अगर वहाँ जैन बस्ती है तो उसका वहाँ संघ होगा और सारा धार्मिक कारोबार संघके जिम्मे होगा। संघका कोई मुखिया मनमानी नहीं कर सकता। बड़ेसे बड़ा आचार्य भी हो तो भी उसे संघके अधीन रहना ही होगा। संघसे बहिष्कृत व्यक्तिका कोई गौरव नहीं। सारे तीर्थ, सारे धार्मिक, सार्वजनिक काम संघकी देखरेखमें ही चलते हैं। और उन इकाई संघोंके मिलनसे प्रान्तीय और भारतीय संघोंकी घटना भी आज तक चली आती है। जैसे गणराज्यका भारतव्यापी संघराज्यमें विकास हुआ वैसे ही पार्श्वनाथ और महावीरके द्वारा संचालित उस समयके छोटे बड़े संघोंके विकासस्वरूपमें आजकी जैन संघव्यवस्था है। बुद्धका संघ भी वैसा ही है। किसी भी देशमें जहाँ बौद्ध धर्म है वहाँ संघ व्यवस्था है और सारा धार्मिक व्यवहार संघोंके द्वारा ही चलता है।

जैसे उस समयके राज्योंके साथ गण शब्द लगा था वैसे ही महावीरके मुख्य शिष्योंके साथ 'गण' शब्द प्रयुक्त है। उनके ग्यारह मुख्य शिष्य जो विहारमें ही जन्मे थे वे गणधर कहलाते हैं। आज भी जैन परम्परामें 'गणी' पद कायम है और बौद्ध परम्परामें संघ स्थविर या संघनायक पद।

जैन तत्त्वज्ञानकी परिभाषाओंमें नयवादकी परिभाषाका भी स्थान है। नय पूर्ण सत्यकी एक बाजूको जाननेवाली दृष्टिका नाम है। ऐसे नयके सात प्रकार जन शास्त्रोंमें पुराने समयसे मिलते हैं जिनमें प्रथम नयका नाम है 'नैगस'।

कंहना न होगा कि नैगम शब्द 'निगम' से बना है जो निगम वैशालीमें थे और जिनके उल्लेख सिक्कोंमें भी मिले हैं। 'निगम' समान कारोबार करने-वालोंकी श्रेणी विशेष है। उसमें एक प्रकारकी एकता रहती है और सब स्थूल व्यवहार एक-सा चलता है। उसी 'निगम' का भाव लेकर उसके ऊपरसे नैगम शब्दके द्वारा जैन परम्पराने एक ऐसी दृष्टिका सूचन किया है जो समाजमें स्थूल होती है और जिसके आधारपर जीवन व्यवहार चलता है।

नैगमके बाद संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत ऐसे कुछ शब्दोंके द्वारा यह आंशिक विचारसरणियोंका सूचन आता है। मेरी रायमें उक्त कुछों दृष्टियों यद्यपि तत्त्व-ज्ञानसे संबन्ध रखती हैं पर वे मूलतः उस समयके राज्य व्यवहार और सामाजिक व्यावहारिक आधारपर फलित की गई हैं। इतना ही नहीं बल्कि संग्रह व्यवहारादि ऊपर सूचित शब्द भी तत्कालीन भाषा प्रयोगोंसे लिए हैं। अनेक गण मिलकर राज्य व्यवस्था या समाज व्यवस्था करते थे जो एक प्रकारका समुदाय या संग्रह होता था और जिसमें भेदमें अभेद दृष्टिका प्राधान्य रहता था। तत्त्वज्ञानके संग्रह नयके अर्थमें भी वही भाव है। व्यवहार चाहे राजकीय हो या सामाजिक वह जुदे-जुदे व्यक्ति या दलके द्वारा ही सिद्ध होता है। तत्त्वज्ञानके व्यवहार नयमें भी भेद अर्थात् विभाजनका ही भाव मुख्य है। हम वैशालीमें पाए गए सिक्कोंसे जानते हैं कि 'व्यावहारिक' और 'विनिश्चय महामात्य' की तरह 'सूत्रधार' भी एक पद था। मेरे ख्यालसे सूत्रधारका काम वही होना चाहिए जो जैन तत्त्वज्ञानके ऋजुसूत्र नय शब्दसे लक्षित होता है। ऋजुसूत्रनयका अर्थ है—आगे पीछेकी गली कुंजीमें न जाकर केवल वर्तमानका ही विचार करना। संभव है सूत्रधारका काम भी वैसा ही कुछ रहा हो जो उपस्थित समस्याओंको तुरन्त निपटाए। हरेक समाजमें, सम्प्रदायमें और राज्यमें भी प्रसंग विशेषपर शब्द अर्थात् आज्ञाको ही प्राधान्य देना पड़ता है। जब अन्य प्रकारसे मामला सुलभता न हो तब किसी एकका शब्द ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है। शब्दके इस प्राधान्यका भाव अन्य रूपमें शब्दनयमें गर्भित है। बुद्धने खुद ही कहा है कि लिच्छवीगण पुराने रीतिरिवाजों अर्थात् रूढ़ियोंका आदर करते हैं। कोई भी समाज प्रचलित रूढ़ियोंका सर्वथा उन्मूलन करके नहीं जी सकता। समभिरूढनयमें रूढ़िके अनुसरणका भाव तात्त्विक दृष्टिसे घटाया है। समाज, राज्य और धर्मकी व्यवहारगत और स्थूल विचारसरणी या व्यवस्था कुछ भी क्यों न हो पर उसमें सत्यकी पारमार्थिक दृष्टि न हो तो वह न जी सकती है, न प्रगति

कर सकती है। एवम्भूतनये उसी पारमार्थिक दृष्टिका सूचक है जो तंथागतके 'तथा' शब्दमें या पिछले महाथानके 'तथता' में निहित है। जैन परम्परामें भी 'तदृत्ति' शब्द उसी युगसे आजतक प्रचलित है। जो इतना ही सूचित करता है कि सत्य जैसा है वैसा हम स्वीकार करते हैं।

ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि अनेक परम्पराओंके प्राच्य ग्रन्थोंसे तथा सुलभ सिक्के और खुदाईसे निकली हुई अन्यान्य सामग्रीसे जब हम प्राचीन आचार-विचारोंका, संस्कृतिके विविध अङ्गोंका, भाषाके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका और शब्दके अर्थोंके भिन्न-भिन्न स्तरोंका विचार करेंगे तब शायद हमको ऊपरकी तुलना भी काम दे सके। इस दृष्टिसे मैंने यहाँ संकेत कर दिया है। बाकी तो जब हम उपनिषदों, महाभारत-रामायण जैसे महाकाव्यों, पुराणों, पिटकों, आगमों और दार्शनिक साहित्यका तुलनात्मक बड़े पैमानेपर अध्ययन करेंगे तब अनेक रहस्य ऐसे ज्ञात होंगे जो सूचित करेंगे कि यह सब किसी एक वट बीजका विविध विस्तार मात्र है।

अध्ययनका विस्तार

पाश्चात्य देशोंमें प्राच्यविद्याके अध्ययन आदिका विकास हुआ है उसमें अविश्रान्त उद्योगके सिवाय वैज्ञानिक दृष्टि, जाति और पन्थभेदसे ऊपर उठकर सोचनेकी वृत्ति और सर्वाङ्गीय अवलोकन ये मुख्य कारण हैं। हमें इस मार्गको अपनाना होगा। हम बहुत थोड़े समयमें अमीष्ट विकास कर सकते हैं। इस दृष्टिसे सोचता हूँ तब कहनेका मन होता है कि हमें उच्च विद्याके वर्तुलमें अवेस्ता आदि जरथुस्त परम्पराके साहित्यका समावेश करना होगा। इतना ही नहीं बल्कि इस्लामी साहित्यको भी समुचित स्थान देना होगा। जब हम इस देशमें राजकीय एवं सांस्कृतिक दृष्टिसे घुलमिल गए हैं या अविभाज्य रूपसे साथ रहते हैं तब हमें उसी भावसे सब विद्याओंको समुचित स्थान देना होगा। बिहार या वैशाली-विदेहमें इस्लामी संस्कृतिका काफी स्थान है। और पटना, वैशाली आदि बिहारके स्थानोंकी खुदाईमें ताता जैसे पारसी गृहस्थ मदद करते हैं यह भी हमें भूलना न चाहिए।

भूदानमें सहयोग

आचार्य विनोवाजीकी मौजूदगीने सारे देशका ध्यान अभी बिहारकी ओर खींचा है। मालूम होता है कि वे पुराने और नये अहिंसाके सन्देशको लेकर बिहारमें वैशालीकी धर्मभावनाको मूर्त कर रहे हैं। बिहारके निवासी स्वभावसे सरल पाए गए हैं। भूदानयज्ञ यह तो अहिंसा भावनाका एक प्रतीक मात्र है।

सच्चे अर्थमें उसके साथ कई बातें अनिवार्य रूपसे जुड़ी हुई हैं जिनके बिना नवभारतका निर्माण संभव नहीं। जमींदार जमीनका दान करे, धनवान् संपत्ति का दान करे। पर इसके सिवा भी आत्मशुद्धि अनेक रूपसे आवश्यक है। आज चारों ओर शिकायत रिश्वतखोरीकी है। बिहारके राजतंत्रवाहक इस क्षतिको निर्मूल करेंगे तो वह कार्य विशेष आशीर्वादरूप सिद्ध होगा। और देशके अन्य भागोंमें बिहारकी यह पहल अनुकरणीय बनेगी। ऊपर जो कुछ कहा गया है वह सब महावीर, बुद्ध, गांधीजी वगैरहकी सम्मिलित अहिंसा-भावनामेंसे फलित होने वाला ही विचार है जो हर जन्मजयन्ती पर उपयुक्त है।

[वैशाली-संघ द्वारा आयोजित भ० महावीर जयन्तीके अवसरपर अध्यक्ष पदसे दिया गया व्याख्यान—ई० १९५३ ।]
